UNIVERSAL
LIBRARY

OU_182046

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY
Call No. H81.6|S61N Accession No. G.H.2298
Author सिंह, सुरेन्द्रपाल तथा चतुर्वेदी, भु
Title नये स्वर | 1955
This book should be returned on or before the date last marked below.

नयेश्वर

कविता-संकलन

सम्पादक
सुरेन्द्रपाल सिंह : भुवनेश चतुर्वेदी

झंकार प्रकाशन
इलाहाबाद

● सं० प्रथम : १६५५ ई०
● झंकार-प्रकाशन के लिए सुरेन्द्रपाल सिंह द्वारा प्रकाशित
● व्यवस्थापक : हरिशंकर शर्मा 'हरीश'
● मुद्रक : रामायण प्रेस, प्रयाग

Checked 1965

● मूल्य : एक रुपया

Checked 1969

● वितरक

राजकमल प्रकाशन

दिल्ली बम्बई इलाहाबाद नई दिल्ली

●

प्रस्तुत संकलन : एक परिचय

प्रस्तुत संकलन प्रयाग के कुछ तरुण साहित्यिकों के परिश्रम का फल है। केवल परिश्रम का फल कहना निश्चय ही अपर्याप्त है; संकलन में जिस सुरुचि और सहृदयता का, जिस परीक्षण-शक्ति का, जिस तटस्थता का और साथ ही जिस आस्था का हमें परिचय मिलता है उसके प्रति 'परिश्रम' जैसा शब्द न केवल संकेत करने में असमर्थ है, कुछ अन्याय भी करता जान पड़ता है। पर वास्तव में वह अन्याय नहीं है, क्योंकि जिन दो-चार नवयुवकों का यह प्रयास है उन्हें सभी दिशाओं में अनवरत परिश्रम करना पड़ा है। संकलित रचनायें अनायास ही प्राप्त नहीं हुईं।

संकलन का नाम 'नये स्वर' रखकर भी इसमें कुछ पुराने, परिचित कण्ठों की ध्वनि भी गूँजने देना, सम्पादकों की भूल नहीं जान पड़ती। संकलन का नाम है 'नये स्वर,' न कि 'नये कंठ'। पुराने गायकों के कंठ से भी यदि स्वर नया निकले तो वह स्वर तो नया ही हुआ न! पाठक संकलित स्वरों में किसी को नया माने किसी को न माने, यह तो सम्भव है; पर यह नहीं कहा जा सकता कि सम्पादकों ने मात्र कंठ की नवीनता को ही स्वर के नयेपन का प्रमाण मान लिया है।

पुस्तक किसी बड़ी कीमती कविता को या किसी भावी शेक्सपियर या तुलसी को पहली बार हमारे सामने लाने में सफल हुई है या नहीं—इसका निर्णय तो भविष्य ही करेगा—पर उसके माध्यम से हम थोड़े से ऐसे कवियों से परिचित अवश्य ही हो जाते हैं जिनसे आगे बढ़ने की हम आशा रख सकते हैं। इतना ही काम कर लेना कुछ कम नहीं है।

किसी काव्य-संग्रह की समस्त रचनायें उच्चतम कोटि की नहीं होतीं। बायरन के शब्दों में, किसी कवि (या किसी काव्य-संग्रह) की सारी कविताओं का श्रेष्ठतम कोटि का होना वैसी ही बात है जैसे नैश-नभ का तारकमय होना। 'नये स्वर' जिस आकाश की ओर, जिस क्षितिज की ओर हमारी दृष्टि आकर्षित करने की चेष्टा करता है वह बहुत अधिक तारक-जड़ित भले ही न हो, मेघाच्छन्न नहीं है। यही बहुत है।

१८/२ बी, टैगोर टाउन, प्रयाग
२ अगस्त १९५५ ई०

बालकृष्ण राव

नये स्वर

- हिन्दी के आधुनिक काव्य में 'नये स्वर' की उद्भावना पाठकों तथा कविता-प्रेमियों के सम्मुख नयी कविता की आधुनिकतम प्रवृत्तियों एवं प्राप्य की एक बानगी उपस्थित करने की अभिलाषा से हुई है। जैसा कि पाठकों एवं सहयोगियों को विदित है कि हम अपनी सीमित शक्तियों में इससे अधिक कुछ कर पाने में असमर्थ थे। यह तो हमारे कवि-मित्रों, सहयोगियों एवं आदरणीय बंधुओं का सहयोग था कि, हम इस नन्हें से उपहार के साथ आपके सामने आ सके हैं।
- नयी कविता पर कोई सारगर्भित सम्मति देकर, न तो हम यहाँ कोई समस्या उठाने की स्थिति में हैं, न तो उसे इस जगह बहुत उचित ही समझते हैं। अपनी समस्त रसमयता के साथ काव्य संवेदनशील मानवीय अनुभूतियों के व्यक्तीकरण का साधन रहा है और रहेगा। हाँ, समय की गति—कवि के प्रभावशाली, लोक-समन्वित व्यक्तित्व ने उसे मोड़ दिया है, और देता रहेगा। संभवतः छायावादी कवियों के बाद हमें नयी कविता तो दिखाई पड़ी, पर काव्य का नया व्यक्तित्व, शायद अभी हमारे सामने नहीं आया। फिर भी हम निरन्तर आशावान हैं।
- प्रस्तुत संकलन के पूर्वार्द्ध में हमने सत्रह ऐसे कवियों की एक-एक प्रतिनिधि कविताओं का संचयन करने की चेष्टा की है, जो काव्य के नये व्यक्तित्व-निर्माण में संघर्षरत हैं—उनकी वाणी मुखर है—उनका स्वर जाना-पहचाना। उन्होंने अपनी कविताओं के प्रकाशन की अनुमति देने की कृपा की है—हम उनके कृतज्ञ हैं।
- उत्तरार्द्ध में संकलित सत्रह कवि, जिनकी एक से अधिक भी कविताएँ हैं, नये किन्तु सशक्त एवं आधुनिक काव्य की समस्त शक्तियों से सम्पन्न हैं। उनके स्वर अभी परिचय प्राप्त करने के मार्ग पर हैं। उनके सहयोग के लिए भी हम आभारी हैं।
- 'झंकार' के इस प्रथम प्रयास को आप के सहयोग एवं स्नेह की आवश्यकता है। आशा है, आप हमारी समस्त सीमाओं को देखते हुए, इसे अपनाएँगे।

सम्पादक

नये स्वर

पूर्वार्द्ध

अजितकुमार

गीत

अब नहीं हूँ
मुक्त।
दो दिन पूर्व का

भले ही मैं इस चराचर में नया-सा था,
एकदेशी चेतना में बँध गया-सा था
अब नहीं हूँ प्रथम, मौलिक भावना से
युक्त।
दो दिन पूर्व था।

वे अपरिचित-भाव जो सब को अगोचर थे,
पूर्व कालिक व्यक्ति के हित तो धरोहर थे,
अब नहीं हूं उन अवायव तन्तुओं में
लुप्त।
दो दिन पूर्व था।

जन्मते ही दृष्टि-पथ आलोक में डूबा,
तमिस्रा से, तिमिर से यह प्राण-खग ऊबा,
अब नहीं हूँ अतल किन्नर-वापियों में
सुप्त।
दो दिन पूर्व का।

गीतों के हंस चले पाँत सजाये हुए।
बैठा है व्याध कहीं घात लगाये हुए॥

बाँझिन का दाग धुला, हर्षाई मोदभरी,
अँखुओं की आँख खुली, धरती की गोद भरी।
नभ की नखतावलि को धोखा है हो रहा,
माटी में मानव है तारे क्यों बो रहा।

मधु की मनुहारों में पात लजाये हुए।
बैठा है व्याध कहीं घात लगाये हुए॥

किरणों की डालों पर फूल रही चांदनी,
सांस के हिंडोले पर झूल रही रागिनी।
चंदा भी गोकुल का ग्वाला है हो रहा,
धरती की काया को गोरस से धो रहा।

वासन्ती निशि पर हैं प्राण लुभाये हुए।
बैठा है व्याध कहीं घात लगाये हुए॥

मधुवन है टेर रहा, बांसुरी विसूरती,
पूनम को दूर कहीं मावस है घूरती।
रूप की लुनाई पर तापस मन डोल रहा,
नीलकंठ दायें आ, बोल शकुन बोल रहा।

वर की बारात चली शाप भुलाये हुए।
बैठा है व्याध कहीं घात लगाये हुए॥

ओंकारनाथ श्रीवास्तव

कला और प्यार

कला—संभव है
कथा में, गीत में
या वास्तु में, स्थापत्य में,
या रोज़मर्रा के निरे सामान्य कामों में;
जहां भी, जब भी, कभी
अपने किसी भी रंग,
किसी भी ढंग की अभिव्यक्ति को
सुन्दर बनाने, सुन्दरतर बनाने, और सुन्दरतम बनाने की,
अखिल अभिव्यक्ति के सौंदर्य में सहयोग देने की
ज़रा सी चेष्टा भर हो, वहीं होती कला है।

कला में अनिवार्यता है—
हम उसे तब जन्म देते हैं,
जब कि उसके बिना पल भर के लिये भी रह नहीं पाते,
अनकही जब सह नहीं पाते,
जब विना रस बह नहीं पाते,
जब बिना घर रह नहीं पाते
और जब पाषाण से कुछ कह नहीं पाते,
और जब मनहूस बेतरतीबियों को सह नहीं पाते
तब विवश हो हम कला को जन्म देते हैं।

हम कला के जनक हैं, कला में अनिवार्यता है
और हम अनिवार्यताओं के जनक हैं—
क्योंकि हम हैं; 'नहीं' के कुल देशव्यापी, विश्वव्यापी, कालव्यापी

आग्रहों के बीच
हम 'हैं'
और हम अनिवार्यताओं के जनक भी 'हैं'।

यह तुम्हारा और मेरा प्यार—
इसमें भी कला है,
क्योंकि इसमें भी, वही सौंदर्य चेष्टा है,
वही अनिवार्यता है।

केदार अग्रवाल **अकर्मण्य**

धोबी गया घाट पर,
राही गया बाट पर,
मैं न गया घाट और बाट पर;
बैठा रहा टाट पर,
दोनों हाथ काट कर
जीता रहा ओस चाट-चाट कर।

केशवचन्द्र वर्मा | **विस्थापित अहम्वाद**

'यह दीप अकेला स्नेह भरा
है गर्व भरा मदमाता-पर—
इसको भी पंक्ति को दे दो।'

'ऊ हुँक !'
(समझाते हुए)
'दे दो
अच्छे बेटे दे देते हैं !'
'ऊँ ऊँ ऊँ ऊँ !'
(पुचकार की ध्वनि करते हुए)
'दे दो
मुन्ना बेटा दे देते हैं
राजा बेटा दे देते हैं।'
'.....'
(कुछ घुड़कने की अदा के साथ)
'दे दो
हाँ हाँ दे दो।
दे दो भाई !!'
'.....'
'शाबाश !'

केदारनाथ सिंह

शरद् प्रात

सुबह उठा तो ऐसा लगा कि शरद् आ गया,
आँखों को नीला-नीला आकाश भा गया,
धूप गिरी ऐसी गवाक्ष से—
जैसे काँप गया हो शीशा,
मेरे रोम-रोम ने तुमको—

पता नहीं क्यों बहुत असीसा—
शरद् तुम्हारे खेतों में सोना बरसाए,
छज्जों पर लौकियाँ चढ़ाए,
टहनी-टहनी फूल लगाए;
पत्ती-पत्ती ओस चुआए,
मेड़ों-मेड़ों दूब उगाए,
शरद् तुम्हारे बालों में गुलाब उलझाए,
छिन पल्ले का छोर ताल की ओर उड़ाए
दूर-दूर से—
हल्के-हल्के धानों के रूमाल हिलाए,
बाँसों में सीटियाँ बजाए,
गलियारों में हाँक लगाए,
मन पर, बाँहों पर, कंधों पर,
मौलसिरी की डाल झुकाए,
पास कुएँ के खड़े आँवले की शाखों को—
नदी तीर की नयी रेतियों से—
दिन की सलवटें मिटाये,
लहरों में काँपता भोर का दिया सिराए,
तुलसी के तल धूप दिखाये,
चूल्हे पर उफने, गरमाये,,
संग-संग बैठा आँच लगाए,
साथ साथ रोटियाँ सिंकाये
शरद् तुम्हारे तन पर छाए, मन पर छाये
नये धान की गंध-सरीखा—
घर आँगन, जंगलों, दरवाज़ों में बस जाए,
शरद् कि जो मेरी खिड़की से भी—
भिनसारे दिख जाता है,

खिंची धूप की टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं से,
मेरे इस सागौन वृक्ष के पात-पात पर—
नाम तुम्हारा लिख जाता है।

गोपीकृष्ण 'गोपेश'

आया मधुमास

पतझड़ के रूखे-पल आज नहीं मिलते
नई-नई कोंपल के नये होंठ हिलते
अनजानी-सी प्रीत हुई अन्तर में गहरी
बागों में लतर-लतर फैल-फूट फहरी
लगता है, इसे नहीं देखा है बरसों
फटी-फटी पड़ती है खेतों में सरसों
मह-मह कर महक उठीं मधुवन की गलियाँ
बदन तोड़, चटख पड़ीं डालों पर कलियाँ
चुप-चुप से तोतों ने पकी-मटर कुतरी
आमों के बौरों पर सोन-परी उतरी
रंगों के कलाकार आज नहीं सुनते
तितली की पलकों पर इन्द्रजाल बुनते
नस-नस में रस के घन उमड़-घुमड़ छाए
हवा गिरी पड़ती है, कदम लड़खड़ाए
कभी कहीं साँसों से प्यार गया आँका ?
गगन आज ताल से, तलैयों से झाँका
नई-नई सजधज है, नया-नया गहना
नदियों की लहरों ने नीलम-सा पहना

इतना समझाया पर एक नहीं माना
ऊँचे पर पंछी ने छेड़ दिया गाना
आँखों के डोरों पर राग लगे तुलने
कोयल के स्वर-स्वर में प्राण लगे घुलने
घुलने का मौसम है—
घोलो, तन घोलो !
आया मधुमास,
आज खोलो मन, खोलो !!

गंगाप्रसाद पाण्डेय

तूफ़ान

है मुझे तूफ़ान की पहचान !
क्षितिज की अँगड़ाइयों में उठ रहा तूफ़ान !
घिर रहीं काली घटायें
ज्यों मनुज की भावनायें—
जो पड़ी बन्दी अभी थीं पा गयीं उत्थान !
उमड़ता है जलधि का जल
शोषितों का अतल कोमल—
साँस से ही कर रहा युग-प्रलय का आह्वान !
देखलो कँपता गगन
धँसती धरा, हँसता पवन
दश दिशाओं ने लिया तम-तोम का परिधान !
यह विषम-बल उत्पात
दिन का दहन उल्कापात
गलता आज हिमगिरिराज गाता ध्वंश ही का गान !

अब तो फट रहा आकाश
धरती धूल का आभास
नित नवक्रान्ति का परिणाम अभिनवसृष्टि का वरदान !
सँभलो यह न कोई और
इसको कवि हृदय में ठौर
डरते मनुजता के मौन पशुबल से बने बलवान !
यह तो रचेगा नव भोर
समता के किरण की डोर
जिसमें बँधे जीवन साथ जन-जन का नया अभियान !
ऐसा यह नया तूफ़ान !

जगदीश गुप्त | आसमान का टुकड़ा

अनजाने मैंने ही खोली होगी साँकल,
खुल गये हवा के झोंके से होंगे किवाड़।
लघु एक चमकता तारा झलका, और दिखा
आकाश-खंड अधखुले द्वार की लिये आड़।

वह नभ का टुकड़ा खुली हवा में डूबा-सा,
तम-भरा मगर तारों की किरनों से उजला।
आँखों-आँखों से हो कर तैर गया सीधे—
मन तक, जिसमें था रुँधा हुआ जीवन पिछला।

जाने कितना हो गया समय, दरवाज़ों को,
मैंने अपने ही आप बंद कर रक्खा था।
कमरे के भीतर की दुनिया तक सीमित हो,
मैं ही अपने से कहा किया अपनी गाथा।

उस गाथा को अपने ही रचे अँधेरे में,
देता रहता था झूम-झूम नित नये छंद।
थी आसमान को भूल चुकीं आँखें बिलकुल,
अच्छे लगने लग गये उन्हें वे द्वार बंद।

पर आज अचानक आसमान के टुकड़े ने,
कमरे के भीतर राह बना ही ली आखिर।
मेरे मन ने मुझको इतना मजबूर किया,
उठ कर मैंने सब खोल दिये दरवाजे फिर।

लेकिन सब दरवाज़ों के खुल जाने पर भी,
जाने क्यों यह आकाश साफ दीखता नहीं।
नज़रों के आगे आ कर छायी जाती है,
मन के भीतर की रुँधी ज़िन्दगी कहीं-कहीं।

बाहर के परदे दूर हुए, फिर भी मन के
भीतर के परदे सब ज्यों के त्यों कायम हैं।
तारों की इतनी घनी रोशनी व्यर्थ बना,
ये बढ़ा रहे अपने तम से नभ का तम हैं।

बाहर का चंदा आसमान पर चढ़ आया,
लेकिन भीतर चाँदनी अभी तक खिली नहीं।
सारे दरवाज़े खोल दिये मैंने फिर भी,
सच मानो मेरे मन को राहत मिली नहीं।

दुष्यन्तकुमार | दो कवितायें

दीवाल

दीवाल, दरारें पड़ती जातीं हैं इसमें
दीवाल, दरारें बढ़ती जाती हैं इसमें

तुम कितना प्लास्टर औ, सीमेन्ट लगाओगे
कब तक इंजीनियरों की दवा पिलाओगे
गिरने वाला क्षण दो क्षण में गिर जाता है
दीवाल भला कब तक रह पायेगी रक्षित
वह पानी नभ से नहीं, धरा से आता है।

यह क्यों ?

हर उभरी नस मलने का अभ्यास
रुक-रुक कर चलने का अभ्यास
छाया में थमने की आदत यह क्यों ?
जब देखो दिल में एक जलन
उल्टे-उल्टे से चाल-चलन
सिर से पावों तक क्षत-विक्षत-यह क्यों ?
जीवन के दर्शन पर दिन-रात
पंडित विद्वानों-जैसी बात
लेकिन मूर्खों-जैसी हरकत—यह क्यों ?

धर्मवीर भारती

मेघ-दुपहरी

ढल रही है मेघ की चूनर लपेटे दोपहर
एक उचटा हुआ-सा सुनसान सन्नाटा अकेला जग रहा है
मेघ धूमिल दिशाओं की बाँह में !

न जाने क्यों
आज यह अपना बहुत परिचित, बहुत प्यारा शहर
अजनबी, अनजान, अन्यमनस्क सा लग रहा है
बादलों की नील-जमुनी छाँह में !

वही मैं हूँ, वही मेरा वीतरागी मन
नहीं अब जिसमें किसी से खास कोई नेह कोई लगन
किन्तु फिर क्यों चित उचटता काम से
क्यों उदासी और बढ़ती शाम से
छू गई मुझको न जाने कौन बिसरी बात, भूला क्षण !
जिस तरह छू जाय नागिन फूल को खिलते पहर !
ढल रही है
मेघ की चूनर लपेटे दोपहर !

बालकृष्ण राव

गीत यदि गा दे

गीत यदि गा दे
प्रणय का गीत यदि गा दे।

तोड़ प्राणों की लता पर
खिल रहे हैं जो सुमन-स्वर,
हृदय की लय में पिरोकर
हार पहना दे,
सजीली कल्पना को हार पहना दे,
प्रणय का गीत यदि गा दे।

वेदना हो पूर्ति क्षति की,
नीति परिवर्तित नियति की;
प्रेरणा देकर प्रगति की
राह दिखला दे,
लजीली भावना को राह दिखला दे,
समय का गीत यदि गा दे।

भारतभूषण अग्रवाल | **मौन की चट्टान**

तोड़ो मौन की चट्टान
फोड़ो अहं का व्यवधान
आकुल प्राण के रस गान
भीतर ही न जायें मर !

बोलो, ज़ोर से बोलो
व्यथा की ग्रंथियाँ खोलो
सँजोलो मन, कि फूटे
कंठ से फिर गीत का निर्झर !

मार्कण्डेय | **विष**

उतरती साँझ की छाया
तितिक्षा मोह, मन की अलस तन्द्रा की बिखरती रेख,
मटियाहे सपोले-सी सरककर छू चुकी थी प्राण, विष की नीलिमा
शत-शतमुखी हो कर निरन्तर काल की काली लटों में
होश की अन्तिम कड़ी को बाँधना ही चाहती थी,
पर तुम्हारे शब्द सहमे-से झुके-से
बन्धनों के बीच फांसों में कसे-से
टूट कर आये 'सुना.....नाराज़ .....हो !'
'नाराज़.....मैं !' देखा, निमीलित नयन की कोरें
पुलक अभ्यर्थना के आँसुओं में डूबना ही चाहती हैं,
'नहीं.....नहीं' और फिर विष ने लिया विष सोख
खारा स्वाद होठों में, बिखरते-बाल बाहों में।

लक्ष्मीकांत वर्मा | **दीप चाहे जो**

दीप—
दीप हो चाहे जो,
घर का, चूल्हे का,
चौराहे गलियों का
सब प्रकाश देते हैं
सभी ज्योति वाहिन शृंखला को
अग्रसर करते सतत
अस्तित्व देते हैं !

अनल का शुभ स्नेह
तिमिर का है
दूर तक फैले तिमिर का
बन्द कमरों के किवाड़ों का
दराज़ों का
उन सभी का जो तिमिर ज्वाला लिये
खुद स्वयम् अपने आप को ही नहीं
संसार के इस पुण्य पथ को
स्नेह देते हैं !

ज्योति केवल दीप तक सीमित नहीं है
इस कुहासे से भरे संसार पर
उसका सबल अधिकार है
उसका सरल अधिकार है !

शमशेरबहादुर सिंह **संकेत**

यों प्रकाशित हो सके, वह तू नहीं
याद का मोती कोई आँसू नहीं।
प्राण कहते हैं: मधुरतम दीप्ति में—
आत्मा की लौ जली, लोहू नहीं।
तू मेरे एकान्त का एकान्त है;
मैं समझता था कि मेरा तू नहीं।
तू नहीं तो एक सुपना है बहार,
तू नहीं तो फूल में ख़ुशबू नहीं।
तुझ बिना सब शून्य है, सब अर्थहीन,
क्या रहा संसार में जब तू नहीं!
भंगिमाएँ हों बहुत तो क्या हुआ,
व्योम के मेहराब में वह भ्रू नहीं।
ठेठ हिन्दी की ग़ज़ल 'शमशेर' आह,
शब्द में संकेत हैं, जादू नहीं।

श्याममोहन | **व्यक्तित्व-दर्शन**

हो गयी है रुत सुहानी
ख़ुशनुमा हैं सब फ़िज़ाएँ

झूमते बादल, बरसते;
दौड़ती पागल हवाएँ !
है थिरकता हाय ! भू का
आज तृण-तृण और कण-कण
हरित पत्रों-सा लहकना
चाहता हम सबों का मन !

"उड़ेंगे !"—
हम फड़फड़ाते।

टूटता पर एक सपना—
हम महज़ कागज़ :
नहीं रखते अलग व्यक्तित्व अपना !
बोझ मानों हम सभी पर
किसी पेपरवेट का है।

स्वप्न गढ़ते।
बस।
सिवा इसके
हमारे पास क्या है।

नये स्वर

उत्तरार्द्ध

अमरबहादुर सिंह 'अमर'

[परिचय—श्री अमरबहादुर सिंह 'अमर' वर्तमान-पीढ़ी के उदीयमान गीतकार हैं। इस समय प्रयाग-विश्वविद्यालय में एम० ए० (हिन्दी) के छात्र हैं। आलोचनात्मक निबन्ध लिखने में भी सिद्ध-हस्त हैं। इनके गीतों में मार्मिक-अभिव्यक्ति, साफ सुथरी भाषा तथा संगीतात्मकता का सफल मिश्रण मिलता है।]

गीत

मधुर स्नेह जब तक, भरा दीप में था,
तभी तक जला, अब जले क्या बिचारा।

घिरी शून्य में जब प्रलय - कालिमा थी,
कुमुद थे विमुद, रो पड़े थे सितारे,
बरस जा रही थीं, कभी मेघ बूँदें,
उफन जा रहे थे, सरित के किनारे।

तमतोम छाया, दिशा में, निशा में
रहा पथप्रदर्शक, मधुर दीप प्यारा।

सतत जल रही थी, मदिर दीप की लौ,
भरा स्नेह जब तक रहा वर्तिका सँग,
न लौ बुझ सकी थी विपुल आन्धड़ों में,
सजग चेतना से, रहा दीप्त जग जग।

सहसा मलय ने, प्रलय-वात छोड़ा
रहा दीप का अब, न कोई सहारा।

कहा लोग करते सदा, दीप जलता,
मगर स्नेह जलता, नहीं दीप बाती,
अरे, आस, अरमान के साधना की,
बची है जगत में, यही एक थाती।

बुझा दीप है तब, न आते शलभ भी
कहा दीप ने फिर, मधुर स्नेह प्यारा।

न जग में सभी दिन, सदा एक होते,
कहीं एक हँसा तो, कहीं चार रोते,
कभी फूल से साज शृङ्गार होते,
कभी अग्नि से साज साकार होते।

रहा स्नेह जब तक, जली ज्योति जगमग,
बुझा दीप, ज्यों ही चुका स्नेह प्यारा।

[२]

जब तुम पहुंचोगी द्वार !

जब तुम पहुँचोगी द्वार प्रिये !
नयनों के फूल बिछा मग में
होंगे स्वागत मनुहार प्रिये !
जब तुम पहुँचोगी द्वार प्रिये।
होगी बसन्त की प्रथम रात,
सोती होगी कलिका कुमारि,
कुसुमों की तन्द्रिल पलकों को,
सहलाती हो मलयम बयार।

प्राची के अरुण-झरोखे से,
खुलता होगा अनुराग द्वार।
कोमल शिरीष के पुष्पों पर,
अरमान मचल जाते होंगे,
पतझड़ बसन्त के सम्मेलन,
वीरान बदल जाते होंगे!
ऊषा के पल्लव अधरों सा
हँसता होगा संसार प्रिये!
मेरी कुटिया पर माधव के,
सपने भी सिसक रहे होंगे,
मेरे बसन्त पतझड़ बनकर,
चुपके से खिसक रहे होंगे।
रूपसि चरणों के न्यास—
जगायेंगे सोए उद्गार प्रिये!
माधव होगा मधु से विहीन,
कलिका होगी पर कुसुमहीन,
जलता होगा टिमटिम करके,
कुटिया में कोई दीप, दीन।
झिल मिल दीपक की लौ होगी,
बाती भी होगी क्षार प्रिये!
है आदि काल से सृष्टि बनी,
पर है अनादि से वृष्टि बनी,
फिर भी मरुथल को देख सके,
मानव की ऐसी दृष्टि बनी।
मेरी कुटिया दरवाजे का,
हो जायेगा उद्धार प्रिये!

अवधेश सिंह

[परिचय—कुँवर अवधेश सिंह जो हिन्दी के उदीयमान तरुण कवि हैं। अभी इन्होंने कवितायें बहुत थोड़ी लिखी हैं, किन्तु जो कुछ लिखी हैं वे सुन्दर हैं। आपके उन्मुक्त स्वभाव का प्रतिबिम्ब कविताओं में भी स्पष्ट झलकता है। इस समय प्रयाग विश्वविद्यालय में कानून की शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।]

चार मुक्तक

(१)

तूफानों से टक्कर, जीवन की हल-चल
सपनों का महल, अभावों की पोढ़ी धरती
हर बार बहुत समझाता हूं, अपने मन को
यह बार-बार पड़ता है बरबस, मचल मचल।

(२)

सब बढ़े चले जाते हैं धक्का दे देकर
मैं थाम लिया करता हूँ, पथ की एक कगर,
मैं रुका पड़ा हूँ औरों का अवरोध बना
चलती जाती है इठलाती, दिन रात डगर।

(३)

खीसें काढ़ीं, चीखा-चिल्लाया बहुत गगन
कांपा, काला पड़ गया और आँसू ढारे—
कर दिया द्रवित, रसहीन-धरा के मानस को
पर बुझ न सकी उसके अन्तर की महा-तपन।

(४)

यह रोज़-रोज़ की लिखा-पढ़ी, छुप-छुप मिलना
ये वादे, ये कसमें, यह सपनों की दुनिया;
सच मानो, यह बालू का सुन्दर राज महल—
ढह जायेगा, जिस रोज किसी ने जान लिया।

[२]

तुम्हारा साथ

कभी तुम्हारा साथ—
बैठना पास, हास-परिहास
रूठना और मनाना
सब कुछ था;

मेरे जीवन में खुशी फूट पड़ती थी
जब तक तुम रहती थीं—
लगता था जैसे सारा सुख,
बस 'हम' 'तुम' में ही केन्द्रित हो।

थाम लिया करती थीं चलते-चलते जब
अनजाने में, अपने कोमल हाथों से मेरा हाथ
मुझे लगता था जैसे
मैं हिमगिरि से भी ऊँचा हूँ,

और तुम्हारे लहराते चंचल बालों की, छोटी सी लट—
चूम लिया करती थी चलते-चलते जब मेरे गालों को
सच मानो, मुझमें बिजली सी भर जाती थी

मैं सोचा करता था, इस नीलेपन के उस पार
जहां कोई न रहे,
बस हम तुम हों—
बस उसी जगह, छोटा-सा महल बनायेंगे
उस नन्हें-मुन्ने राजमहल में, चांद सितारों से
हम तुम्हें सजायेंगे।

पर स्वप्न भंग हो गया—
जग पड़ा मैं,
देखा तो तुम, उस नील गगन के पार जा चुकी थीं
मैं पंख-कटे पंछी-सा बेबस
पड़ा रह गया;
और आज भी पड़ा हुआ हूँ,
प्राणों में, जाने कितनी हलचल, पीड़ा, उन्माद छिपाये।

उदयभानु मिश्र 'भानु'

[परिचय—श्री उदयभानु मिश्र तरुण कवि हैं, पहले गीतों की ओर विशेष रुचि थी; अब मुक्तक अधिक लिखने लगे हैं। 'उड़ते बादल, तथा 'साधना के दीप' आपके दो कविता-संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं। इस समय प्रयाग में रह रहे हैं तथा बी० एससी० के छात्र हैं।]

गीत

हँस लो कुछ क्षण और धरा पर नभ के चाँद सितारो !
आग लिये मुसुकाता पथ पर, सूरज आता होगा।

कब तक ढाँक सकेगी भू को, निशि, तम की धारा में ?
कब तक मौन रहेगा पंकज, कलियों की कारा में ?
कब तक धरती का सुहाग वर, तम में छिपा रहेगा ?
कब तक पत्तों के झुरमुट में, पंछी पड़ा रहेगा ?
कब तक होगी मनचाही यह, कब तक धरा सहेगी ?
कब तक भू पर अन्धकार की, चक्की चला करेगी ?

कर लो अपने मन की कुछ क्षण और गगन के तारो !
दीप लिये हहराता नभ में, सूरज आता होगा।

अब तो जीवन और मरण का, भीषण झगड़ा होगा।
और तुम्हारी मनचाही पर, बल का पहरा होगा॥
फूलों से खेलेगी हंस कर, रोने वाली धरती।
हरी लताओं में झूमेगी, बन मतवाली धरती॥
बन्द रहेंगे गीत रात के, सरस प्रभाती होगी।
हारेगी जब रात, और जब, जीत दिवस की होगी॥

खोलो घर के द्वार, किरण आयेगी—भू के लोगो !
थाल लिये कर में—कल सूरज, तिलक लगाता होगा।

[२]

आज के वैज्ञानिक से !

ओ यन्त्रों के बल पर जीने वालो,
"भू अम्बर को बांधा मैंने"
यह दम भरने वालो,
विश्व-शक्तियों के संचालक,

वैभव के सम्राट ! !
ओ न्यूटन के बेटो,
फैराडे का स्वप्न संजोने वालो !
ओ प्लेटो के ध्वजाधारियो !
तुम्हें बधाई ! तुम्हें बधाई ! !
तुमने सागर की छाती पर
कल पुर्जे दौड़ाए,
तुमने भू पर जम कर अपना
सिक्का प्रबल जमाया
दहल उठा अम्बर का स्तर-स्तर
वायुयान के स्वर से,
दो छटांक के इस दिमाग के
बल पर तुमने,
बांध लिया तूफान,
पवन पर रोक लगाई
सूरज दहला, कांप रहा है
चांद गगन में—
जब से तुमने उस पर अपनी,
तृषा-भरी आंखें ठहराईं ।
बंधे तुम्हारे परुष करों में --
पांचो तत्व, बधाई तुमको ।
बन जाओ भगवान, खुशी है !
किन्तु स्वयं को देखो क्योंकर—
यद्यपि तुम मनु के बेटे हो,
पर न मनुज तुम बन पाये हो ॥
चले बसाने चांद—बहुत अच्छा है,
किन्तु तुम्हारी धरा – कि जिस पर

तुम जीते हो—
देखो क्या बस पाई ?
पाकर रूप, शक्ति, तुम से ही
फल रहा अणुबम —
तुम भी फूले हो ।
किन्तु देख लो—
शिव का ही वरदान,
उन्हीं के लिये — श्राप बन,
भस्मासुर का रूप पकड़ कर,
नहीं आ रहा क्या वह पीछे ?
* * * *
हिरोशिमा, नागासाकी का उजड़ा वैभव—
घायल आँखों में आँसू भर
नहीं तुम्हारी ओर देखता है क्या ?
जिसकी राखी की ढेरी में
सोये कितने लाल—
और,
कितनी मांगों की लाली सोयी ।
कितने काले, घुंघराले केशों के फूल,
झुलस-झुलस कर झर कर,
जिसमें सोए हैं चुपचाप !
जिसमें कितने स्वप्न और अरमान,
जल गये, राख बन गये ।
यही तुम्हारे अणुबम की है देन —
कि जिस पर तुम्हें गर्व है !
* * * *
ओ ! पौरुष के प्रेत !

मिली है शक्ति, धरा यह उलटो,
शेष नाग के फन पर चढ़कर,
दौड़ो, तोड़ो —
क्षत, विक्षत कर दो जन जीवन !
लोहू की तुम धार बहाओ,
कर दो सारी सृष्टि रक्तमय,
सागर में तूफान उठाओ,
अम्बर जले, धरा यह धधके,
कोटि दहकते अग्नि पिंड
अम्बर में नाचें,
स्वप्न सत्य हो शिव का,
करो प्रलय बन नर्तन,
बन तेजवान तुम !

* * * *

पर यह दानवता का पौरुष,
जिसके पांवों में है केवल बंधा नाश ही,
लाल-लाल अंगारे हैं जिसकी आंखों में
कर में रक्त सने कृपाण,
लोहू के प्यासे—
हैं भूखे मनुज मांस के
पालक, पोषक, बनने का क्या,
स्वप्न देख सकते हैं वे भी ?
वैसे !
—जैसे चमक रहे हैं यश से—
शंख, चक्र औ गदा, पद्म
उस महा विष्णु के,
भरा कि जिसमें—पूज्य पिता का स्नेह

और माता की ममता।
जिसके लिये मृत्यु है उसके,
बेटों का दुःख, रुदन, पतन,
औ',
पालन ही जिसका जीवन है।
ओ, वैज्ञानिक! समझलो,
आंखें खोलो,
पूजे जाओगे तुम तभी
कि जब तुम—
शिव बनने के साथ,
विष्णु, ब्रह्मा स्वमेव ही बन जाओगे!

गिरिजाकुमार चतुर्वेदी 'कुमार'

[**परिचय**—श्री गिरिजाकुमार जी 'जीवशास्त्री' होते हुए भी एक कोमल भावनाओं वाले कवि हैं। विक्टोरिया कॉलेज ग्वालियर से एम० एससी० (जीवशास्त्र) करने के बाद आजकल रतलाम में 'सहायक-मत्स्य-उद्योग-विकास-अधिकारी' हैं।]

परिचय

चलना—
फिर, ठिठक खड़े हो जाना
हँसना—
कुछ कहना, चुप हो जाना
यही मेरा जीवन।

कुछ यादें, कुछ फरियादें
कुछ कड़वी, कुछ मीठी—
कुछ और.....
यही बस मेरा धन।

[२]

दो मुक्तक

दिन रात सरकते जाते हैं धीरे धीरे,
मैं कहता जाता हूँ 'लो यह दिन भी बीता!'
पीता जाता हूँ जीवन की कड़वी मदिरा
होता जाता है जीवन का मधुघट रीता।

(२)

भरे तरकश, खिंचे धनु, छूटते ये तीर,
समझेंगे भला क्या दूसरे की पीर,
(न सुनने को रहा कुछ, न कहने को बचा कुछ शेष)
आज तक जो कुछ न कह पाया .....
ढरक कर कह गया उसको नयन का नीर।

[३]

'पूनो की चाँदनी' और 'अमा की कजराई'

रुपहली रात है
तारे गगन में मुस्कराते हैं
थिरकता चाँद अंबर में
धरा पर के सभी अणु-कण, नशीली चाँदनी से रूप लेकर
स्वयं को चाँद के भी रूप से बढ़कर सजाते हैं।

सदा ही चाँद है देता
जगत को चाँदनी अपनी
कि ज्यों-ज्यों बाँटता, त्यों-त्यों निखरता है।
रूप शशि का हर निमिष बनता सँवरता है।

अमा जब—
निज में निहित कजराइयों को दूर करना चाहती है
दूसरों पर बोझ अपनी कालिमा का डाल देना चाहती है
तब—
नहीं कुछ कालिमा घटती
वरन् जग जान जाता है
कि कितनी कालिमा लेकर अमा आती

इसी से—
ज्ञान को बाँटो, बढ़ेगा और उतना ही
मगर जड़ता 'स्वयं' में निहित रहने दो
निकालो—दूर फेंको
दूसरों से मत कहो
अज्ञानता, जग जान जायगा।

[४]

गीत

'मैं तुम्हें भूल जाऊँगा प्रिय', समझो न मुझे इतना चंचल।
यह दोष सखी इतना तीखा, जितना तीखा आँखों का जल॥
तुम दूर तुम्हारी स्मृति ही,
है शेष बनी, निधनी का धन।
जैसा तुमने छोड़ा वैसा,
अब तक चलता जाता जीवन॥

मधुमास वही, दिन रात वही, पर शेष नहीं अब वे मधु-पल।
यह दोष सखी, इतना तीखा,
जितना तीखा आँखों का जल॥

तुम स्वर के सुंदर कंपन सी
दो क्षण को आ, धुँधला जातीं।
मानस में चपला सी आकर
बस, ज्योति दिखाकर छिप जातीं॥

आकाश वही, बरसात वही, बस पास नही है वह अंचल।
यह दोष सखी इतना तीखा,
जितना तीखा आँखों का जल॥

तुम मुझे भूल जाओ चाहे,
यह तो अधिकार तुम्हारा है।
मन तो दे डाला है तुमको,
केवल तन प्राण हमारा है॥

है हास वही, परिहास वही, पर फर्ज़ अदाई भर केवल।
यह दोष सखी इतना तीखा,
जितना तीखा आँखों का जल॥

दयासागर 'रायज़ादा'

[परिचय—श्री दयासागर 'रायज़ादा' की कविता में विद्रोह भी है, विनय भी ! छात्र जीवन से ही कवितायें लिखते रहे हैं। कहानी एवं एकांकी लिखने में भी सिद्धहस्त हैं। एक गीतकाव्य 'विस्मृति' शीघ्र ही प्रकाशित होने जा रहा है। इस समय मध्य भारत के गुना जिले में लेक्चरार हैं।]

सागर से

उत्ताल तरंगों में सागर लहराता।
रत्नों की निधि पर लहर-लहर बल खाता।
यह तट पर की चट्टान कटे अब कैसे?
सीमित रहने की आन घटे अब कैसे?
उदरस्थ धरा को करूँ, सोचता, क्योंकर?
मेरे उर से तूफान उठे यह कैसे?
हर बार शिला पर, वार स्वयं कर जाता।
पर पिटा हुआ सा, बार-बार चिल्लाता।
श्रम सी कठोर चट्टान न कुछ भी बोली,
सहे, वार पर वार, न जिह्वा खोली।
सहने की भी आखिर कुछ सीमा है!
या बड़वा नल की आज जलेगी होली॥
म्रियमाण देह को अमर बनाने जाता।
चंदा से पाने सुधा स्वबाहु बढ़ाता।
'जड़ जलधि' विनय से आज नहीं जो माने,
तो देख सामने राम 'शरासन'—ताने।
है तीन दिनों की बाट जोहना मुश्किल,
पल एक बहुत है आज, प्रलय को लाने॥
दे स्वयं मार्ग यदि नहीं शीघ्र हट जाता।
तो देख लषन का वाण सोखने आता।
तू पचा सकेगा कैसे जो कुछ खाया?
भोली चिड़िया के अण्डे पचा न पाया।
सीमित सत्ता पर गर्व न तू इतना कर,
लेखा जोखा कर ले जो दिया दिलाया॥
कुंभज का अब वह क्रोध बढ़ा है आता।
ले, तीन घूँट में ही तुझको पी जाता।

[२]

गीत

सृष्टि की यह सृजन शक्ति, सृष्टि को ही खायगी।

श्रम किसी का, धन किसी का, एक मरता, एक जीता।
खोदता कोई कुँआ, पर नीर कोई और पीता॥
यह विषमता ही जगत को एक दिन खाकर रहेगी।
दीन दुर्बल 'आह' भी बिजली गिरा कर ही रहेगी॥

देखना फिर एक दिन सच-मुच प्रलय मच जायगी।
सृष्टि की यह सृजन शक्ति, सृष्टि को ही खायगी।

डार के सिर भूल, तू क्यों पुष्प यों इठला रहा।
जान ले इससे अरे तू, नित्य पोषण पा रहा॥
यह अकिंचन डार, तेरा भार यों कब तक सहेगी?
रस भ्रमर पी जायँगे, तब पंखड़ी गिर कर रहेगी॥

तीव्र झंझावात में, मधुगंध भी उड़ जायगी।
सृष्टि की यह सृजन शक्ति, सृष्टि को ही खायगी।

कह रहा हूँ सोच लो, अस्तीन में मत साँप पालो।
कीलना क्या रे? विषैलों को अभी से मार डालो॥
कर रहे शोषण निरंतर, विष-भरे रहने न पाएँ।
और इनकी विष-बुझी पीड़ा श्रमिक सहने न पाएँ॥

विष बढ़ा तो देखना शिव शक्ति भी बढ़ जायगी।
सृष्टि की यह सृजन शक्ति सृष्टि को ही खायगी।

प्रतापादित्य त्रिपाठी 'अरविन्द'

[परिचय—श्री प्रतापादित्य राम त्रिपाठी जी के स्वभाव में सौम्यता तथा सरलता है, और लेखनी में क्रान्ति तथा ज्वाला। १९५२ के पहले अधिकतर गीत ही लिखते रहे हैं, किन्तु इधर मुक्त-छन्दों से विशेष प्रेम हो गया है। इनकी नवीनतम रचनाओं को गद्य-पद्य की संकुचित सीमाओं में बांधना कठिन है; उन्हें काव्य ही कहा जा सकता है। ध्वन्यात्मक-एकांकीकार के रूप में भी 'अरविन्द' जी ने यथेष्ट सफलता प्राप्त की है। इस समय प्रयाग-विश्वविद्यालय में एम० ए० (राजनीति) के छात्र हैं।]

मेरे चित्र

मैंने तूलिका की ओर देखा,
वह हँस रही थी।
उसने कहा—एक चित्र तो बनाओ।'
लेखनी की ओर देखा,
वह रो रही थी।
किन्तु होठों से हँस रही थी।
उसने कहा—'कुछ लिख तो डालो!'
मन की ओर देखा,
वह विकल था,
किन्तु बाहर निकलकर घूमना चाहता था।
उससे पूछा—'हजरत, निकलोगे किस रास्ते?'
वह व्यंग भरकर मुस्करा उठा।
मेरे अधरों से गीत फूट पड़ा।

लेखनी और तूलिका साथ साथ चलने लगी।
अक्षरों के चित्र बनने लगे...
देखा तो कुछ लिख गया था।
किन्तु, दूसरे ही पल,
सूरज निकला और सवेरा हो गया।
और.....
जो लिखा, सब मिट गया था...
सिर्फ कुछ धब्बे अवशेष थे।
लोगों ने देखा और आश्चर्य करने लगे।
लेकिन मैं कराह उठा,
काश, मिटने के पहले ही देखा होता!

[२]

धान का लावा

मेरे पूर्वज,
जैसा कि मैंने सुना है,
निर्जन में थे, अकेले थे,
किन्तु सुखी थे।
सब घासों से ऊँचे
लम्बी-सी सींक की तरह दुर्बल,
अपने ही में पनप कर
अपने ही में निर्बाध बढ़कर, पककर,
बुढ़ाये और मृत्यु से बँचने के लिए,
धूलि में मिल जाते।
जब प्रकृति उन्हें आमन्त्रित करती,
यौवन के उपहारों से सजकर, स्नेह का पानी पिलाती,

तो कुचले हुए अरमानों की तरह
एक नहीं अनेकों बनकर, घासों के बीच
नई सासों से भरकर, उग आते।
तमाम कठिनाइयों से लड़कर,
हम ज़िन्दा रहे।
किन्तु, जब मनुष्यों ने पाया,
तो अपने वश कर लिया,
और अब,
हमने पाई आप की राह।
अब हम आप की ही राह पर, आपकी क्यारियों में,
जीते हैं, मरते हैं।
परन्तु एक बार, और सिर्फ एक बार,
जब फूलते हैं, फलते हैं, तो उन दिनों की सुधि कर ही लेते हैं,
कुछ लहरकर और कुछ चरमाकर।
आप समझते हैं, जब मैं पक गया, झर गया।
परन्तु नहीं, मेरा प्राण सिमट गया,
कल्पनायें सिमट गईं।
हमारी शक्ति ने एक चादर ओढ़ ली,
इसलिये कि आप से बँच सकें।
किन्तु यह न हो सका।
चमकती हुई हँसिया देखकर,
हमारे मुँह के दूध जम गये।
आप ने मुझे जला डाला।
आप मुझे आग में डालकर,
मेरी कल्पनाओं को,
शक्ति को,
स्वप्न और प्राण को, भस्म कर चुके हैं।

लेखनी और तूलिका साथ साथ चलने लगी।
अक्षरों के चित्र बनने लगे...
देखा तो कुछ लिख गया था।
किन्तु, दूसरे ही पल,
सूरज निकला और सबेरा हो गया।
और.....
जो लिखा, सब मिट गया था...
सिर्फ़ कुछ धब्बे अवशेष थे।
लोगों ने देखा और आश्चर्य करने लगे।
लेकिन मैं कराह उठा,
काश, मिटने के पहले ही देखा होता!

[२]

धान का लावा

मेरे पूर्वज,
जैसा कि मैंने सुना है,
निर्जन में थे, अकेले थे,
किन्तु सुखी थे।
सब घासों से ऊँचे
लम्बी-सी सींक की तरह दुर्बल,
अपने ही में पनप कर
अपने ही में निर्बाध बढ़कर, पककर,
बुढ़ाये और मृत्यु से बँचने के लिए,
धूलि में मिल जाते।
जब प्रकृति उन्हें आमन्त्रित करती,
यौवन के उपहारों से सजकर, स्नेह का पानी पिलाती,

तो कुचले हुए अरमानों की तरह
एक नहीं अनेकों बनकर, घासों के बीच
नई सासों से भरकर, उग आते।
तमाम कठिनाइयों से लड़कर,
हम ज़िन्दा रहे।
किन्तु, जब मनुष्यों ने पाया,
तो अपने वश कर लिया,
और अब,
हमने पाई आप की राह।
अब हम आप की ही राह पर, आपकी क्यारियों में,
जीते हैं, मरते हैं।
परन्तु एक बार, और सिर्फ एक बार,
जब फूलते हैं, फलते हैं, तो उन दिनों की सुधि कर ही लेते हैं,
कुछ लहरकर और कुछ चरमाकर।
आप समझते हैं, जब मैं पक गया, मर गया।
परन्तु नहीं, मेरा प्राण सिमट गया,
कल्पनायें सिमट गईं।
हमारी शक्ति ने एक चादर ओढ़ लिया,
इसलिये कि आप से बँच सकें।
किन्तु यह न हो सका।
चमकती हुई हँसिया देखकर,
हमारे मुँह के दूध जम गये।
आप ने मुझे जला डाला।
आप मुझे आग में डालकर,
मेरी कल्पनाओं को,
शक्ति को,
स्वप्न और प्राण को, भस्म कर चुके हैं।

इस पर भी आप मुझसे आशा करते हैं !
किन्तु क्या कभी आपने यह सोचा—
कि मेरे हृदय में भी जीने की लालसा होगी,
कि मैंने भी कुछ सोचा होगा ?
क्या मैं बोलता नहीं—
तो मेरी इच्छायें न होंगी ?
क्या मैं रोता नहीं—
तो वेदना नहीं होती ?
क्या मैं हँसता नहीं—
तो प्रसन्नता नहीं होती ?
सब कुछ होता है,
परन्तु भगवान् ने मेरी ज़बान बन्द कर दी है,
और विद्रोह की शक्ति छीन ली है।
इसलिये आप चाहे जो करें,
आप के पास शक्ति है।
मैं मानव युग की आग में तप्त,
वेदना से भरा हुआ उछल रहा था।
बालू के गर्मकण मुझे जला जाते,
लेकिन मैं बेचारा था और मेरा समाज बेचारा था।
आप हमें,
हमारी भावनाओं को
हमारी आवाज को, कुचल कर,
अपनी तृप्ति कर रहे हैं।
हमारा और हमारी आशाओं का नाश कर रहे हैं।
कर लीजिये, किन्तु सिर्फ़ आज ही,
क्योंकि मेरे पूर्वजों ने बता दिया है,
कि 'हम जिन्दा रहेंगे'

'हमारी सन्तान ज़िन्दा रहेगी'
'हमारी आशायें ज़िन्दा रहेंगी'
क्योंकि हमारे बिना आप जी नहीं सकते।
आज आप हमारा नाश कर रहे हैं,
किन्तु एक दिन,
आप सभी मुर्दा हो जायेंगे,
जला दिये जायेंगे—
और तब,
आप के शव की राखों पर,
उगा रहेगा कोई मेरा भाई,
जो आपको चूस-चूस कर पनपेगा—
बढ़ेगा,
और मुस्करा उठेगा,
क्योंकि उस दिन हमारी बारी रहेगी,
हमारी बारी !!

वागेश्वरीप्रसाद वर्मा

[परिचय—श्री वागेश्वरीप्रसाद जी वर्मा एक मेधावी छात्र तथा प्रतिभाशील तरुण कवि हैं। इनकी रचनाओं में किसी वाद विशेष का समर्थन नहीं प्रत्युत स्वतन्त्र विचारों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिलती है। वर्मा जी ने कवि तथा कहानीकार दोनों रूपों में समान सफलता प्राप्त की है। इस समय प्रयाग विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।]

धरती की आवाज़

बड़े स्नेह से कहा किसी ने तुम सुन लेना
कान लगाकर, हृदय थाम कर, धीरज धर कर
धरती की आवाज दरारों से आती है।
झीनी-झीनी-स्निग्ध-श्वास, सुरमई नज़र-सी वाष्प सदृश
मानस में शीतल होकर, रिमझिम-सी झरती है
और कभी उत्तप्त ज्वाल-सी, फेन उगलती, धुआँधार कर
प्रलय सदृश बन, एक धुन्ध जग में छा जाती,
धरती की आवाज़ वही जो—
कटे वृक्ष की शाखाओं से सुन पड़ती है।
लेकिन मैं हतभाग्य अकेले एक रूप की, जिसकी—
मधु-सी मधुर चाँदनी-सी सिहरन में कर्मयोग का
ध्यान कर रहा,
और उसी के शब्द मात्र भर सुन लेने को
जिसमें जीवन खिल उठने का स्वांग भर रहा,
कहाँ-कहाँ हूँ नहीं भटककर 'फुलस्टॉप-सा' बहुत बड़ा
खुद ही अपने जीवन का मैं अवरोध बन गया।
कान लगाकर, आश बिछाकर
फटी-पुरानी सभी घाटियाँ और कगारें
देख चुका हूँ,
पर वह सब निस्तब्ध शान्त-सी निर्विकार
श्वासों तक में भी नहीं हृदय को शान्ति दे सकी।
हो सकता है कभी सन्देशे पूर्वजनों को दे आई हो
और सरल, सोदार मातृ के हृदय तुल्य
सीता को ले अंकों में चेतन बन छाई हो
पर अब तो निःस्सार पुलिन-सी धसक रही है

इसी लिए तो मैं निराश, उद्विग्न आज अपनी आहों पर
एक-एक कर
सभी कगारों और दरारों को अम्बर को दान कर रहा
जिससे कम से कम अपनी धरती तो समतल हो
और कभी फिर मुँह न बनाए व्यर्थ झूठ की बात सुनाने को
क्योंकि मैं तो देख चुका हूँ, इस धरती में जान नहीं है
फिर कैसे आवाज़ कहाँ से आएगी ?

[२]

मैं अपनी कह आप सुनूँगा

मुझे नहीं है कोई बन्धन,
इष्ट मुझे बस है परिवर्तन,
और इसी की चाह लिए मैं—गाता नूतन राग फिरूँगा ।
मैं अपनी कह, आप सुनूँगा ॥
मुझे न जग का प्यार मिला है,
जीवन का वरदान मिला है,
मरने का भी शाप मिला है—पर मैं नश्वर बन न सकूँगा ।
मैं अपनी कह आप सुनूँगा ॥
मैं हूँ अमर मृत्यु का दुश्मन.
मानवता का मीत पुरातन,
पकड़ मृत्यु को, पीस कलम से—उसका मैं अपवाद बनूँगा ।
मैं अपनी कह, आप सुनूँगा ॥
एकाकीपन मेरा जीवन,
और कल्पनामय आलिंगन,
यही हृदय का नया तपोवन—जग की रीति निभा न सकूँगा ।
मैं अपनी कह, आप सुनूँगा ॥

मुझे भूत से प्रेम नहीं है,
वर्तमान से नेह नहीं है,
पर अपनेपन को भविष्य में—घोल नया संसार रचूँगा।
मैं अपनी कह, आप सुनूँगा॥

अपने पर विश्वास मुझे है,
स्नेह भाग्य से नहीं मुझे है,
कर्मों में अनुरक्ति मुझे है—जिसमें हो पथ नाप सकूँगा।
मैं अपनी कह आप सुनूँगा॥

[३]

गीत

रात जग भी गई, चांद ढल भी गया,
पर धड़कता रहा, हाय मेरा हिया।

एक तारा फिसल कर चला व्योम से,
छीन कर दिल विकल-पन्थ गाने लगा।
प्यार की राह पर ज्योति को भी बुझा,
नष्ट कर नव-प्रणय मुस्कराने लगा॥

हो उठी अनमनी, स्वप्न सा सब लगा,
चांद ने चांदनी को स्वयं पी लिया।
रात जग भी गई;.....

आंख खोली, छलकते-नयन को मिली,
रिक्त-बाहें धरा पर मधुर अश्रु-जल।
दूर देखा उदधि में रहीं छटपटा,
उर्मियां प्रेम में हो रहीं सब तरल॥

सामने हैं पड़े ये शलभ शेष हो,
'दूर मंजिल बहुत' दीप ने कह दिया।
रात जग भी गई,.....

हूँ शिथिल सी पड़ी सोचती, ये नयन,
जल भरे आश को अर्घ्य हैं दे रहे।
हँस रहे सोच जिसका मिलन ये सुमन,
स्वाद प्यासे भ्रमर को लुटा यों रहे॥

हा! यही प्रात! जिसके सुनहले सपन,
अधखुले इन नयन में सँजोया किया।
रात जग भी गई,.....

है कहां लक्ष्य, जिसके लिए रात की,
मंजिलें मुस्करा पार करती रही।
सत्य से कल्पना के नए लोक में,
तूलिका पर मधुर स्वप्न धरती रही॥

पर उमड़ कर पलक के किनारे डुबा,
स्नेह ने आज प्रातः उन्हें धो दिया।
रात जग भी गई,.....

भोजराज चतुर्वेदी 'मानव'

[परिचय—श्री भोजराज चतुर्वेदी जी विषम-परिस्थितियों एवं संघर्षों के बीच भी अपूर्व आत्मविश्वास एवं निष्ठा के साथ साहित्य-साधना में लगे हुये हैं। चतुर्वेदी जी के 'जीवन संध्या' और 'अभि-

मानिनी' दो खण्डकाव्य, 'बनवासी' (एक जीवन का पटांकन) 'अमर गीत' और 'यायावर' दो कविता संग्रह, तथा 'फूल काँटे' और 'क्षितिज रागिनी' दो गीत संग्रह, प्रकाश में आने को आकुल हैं। [चतुर्वेदी जी की कुछ रचनाओं को हम 'झंकार' की ओर से शीघ्र ही प्रकाशित करने जा रहे हैं।] १६४० में पिता की असामयिक मृत्यु के कारण इन्हें अपनी शिक्षा अधूरी छोड़ देनी पड़ी। इस समय अपने गांव फतेपुर (जि० मैनपुरी) में ही अध्यापन कार्य एवं 'माटी' की सेवा कर रहे हैं।]

गीत

अब क्या करोगे क्रूर बन
निष्फल तिमिर! निर्मम किरन!
मैं यंत्र हूँ, मेरे न मन
क्या वेदना देंगे मुझे
ज्वाला हलाहल ताप घन!
गौरव शिखर था तब गिरा
सिर था कभी जब था फिरा
पथरेणु की निर्जीवता
अब क्या दुखा सकते चरण!
मैं नील का जलधर नहीं,
गीतित-गतित निर्झर नहीं,
पातालवासी कूप जल
अब और क्या होगा पतन।
मुझमें न अब व्यक्तित्व गुण
इस आत्मगौरव का न कण
अनुभूति, गति, जीवन नहीं
अब और क्या होगा मरण!

[२]

गीत

कहलाता दो पल का जीवन
पूरे न हुए पर वे दो पल, सब हार चुके उत्थान पतन !
आहों के साथ उठा ऊपर
आँसू बन किन्तु गिरा भू पर
अस्तित्व गया यों ही परन्तु, हो तृप्त न पाए दो रजकण !
बनने के कठिन प्रयास किए
तुमने उनके उपहास किए
रंग भर कर युगभर के श्रम से, फेरा क्षण भर में कालापन !
मेरे सपने तम के बंदी
सीमा ने श्वांसे की मंदी
मादकता के शव से लिपटा, प्यासे शिशु-सा मेरा यौवन ।

[३]

गीत

नीरव निरीह ये करुण गान !
चुप-चुप ही सहता सब प्रहार, धरिणी-सा
कोमल तरुण प्राण !
जीवन की विषवत् रेखा पर
किरणाहत, श्लथ, थककर रुककर
छाया से करता पथिक प्रश्न, पर
नीरव होता समाधान !

आलोक काँच कवचित निहार,
नीरव पतंग के नमस्कार,
मिथ्या सतर्क प्रेरणा-स्रोत, उत्सर्ग-मौन से
भय न मान !

यह मंत्र-मुग्ध कीलित विषधर
विष हो भी तो मणि को क्या डर ?
मैं नूपुर, पद लुंठित प्रसून
नीरव मेरे मानापमान !

भरतजी श्रीवास्तव 'मलयज'

[**परिचय**—श्री भरतजी श्रीवास्तव आधुनिक पीढ़ी के प्रतिभाशील कवि हैं। सुलझे हुये मानवतावादी विचारों, मर्म को छू लेने वाली कल्पना एवं अनुभूति-जन्य भावों, तथा प्रौढ़ एवं सशक्त शैली से सम्पन्न 'मलयज' जी की कविता एक नयी दिशा की ओर संकेत करती है। कविताओं के अतिरिक्त 'मलयज' जी ने कुछ सफल एकांकी नाटक भी लिखे हैं। इस बीच अस्वस्थता के कारण अध्ययन-कार्य स्थगित करके अधिकतर मंसूरी में ही रहते हैं।]

स्वीकारोक्ति

बाँधने को तुम्हें कितनी बार
बाँहें थी उठाईं 'औ' गिराईं !
मुग्ध-मन की तृषित माया में उलझकर
भूल बैठा था

कि बन्धन-व्यर्थ; मचले होठ पर
मनुहार के दो क्षण—
क्षणों की अनकही-सी बात
भ्रम है, जो स्वयं में ही सिमटकर
कभी तो निःशेष होंगे!
फिर इन्हें अनुभूति का कैदी बनाऊँ क्यों?
—क्षणों के मोल अपने को बिकाऊँ क्यों?
प्यार—
दूरी से सहज आकृष्ट मन की चरम परिणति है,
मिलन की कामना है आदि जिसका और इति भी है।
किन्तु मादक है बड़ी,
इस प्यार की रंगीन परछाईं,
बाँधने को जिसे मैंने भी कभी
ये बाँहें थी उठाईं 'औ' गिराईं!

[२]

नई पहचान

मत कहो—
कि मेरी व्यथा झूठी है।
मेरा दर्द
इस दर्द का एकान्त निःस्पृह भाव—
आलोक अन्तर का
मृदुल संवेदनाओं का अजस्र बहाव
है। मैं दृष्टि पाता हूँ इससे।
मत कहो—
वह अग्नि का शव

राख से भरपूर बस बुझती अँगीठी है
कि मेरी व्यथा झूठी है।

मेरी छटपटाहट
निविड़ तम में डूबकर
ऊपर उभरने की सही आहट
जिसे मैं जानता हूँ
और यह भी मानता हूं
यह तड़प, यह छटपटाहट
किसी मंगल-सत्य के संगीत की जीवित कड़ी है
साँस भी मेरी उसी की
ताल, लय, स्वर छन्द
गहरी मूर्च्छना से तो जुड़ी है।

आँख के आँसू
पलक-दल की नमी
और दिल के दाग़
देते हैं सुराग़
भोर की धुँधली विभा में
खुल रही लोचन-पुतलियों की तरह ही
खुल रहे उस बड़े पहलू का
कि जो अब तक छिपा था,
ज़िन्दगी की व्यर्थ भागी-भाग में अबतक दबा था।

यह नई पहचान
मुझको शक्तिप्रद हो !
दृढ़-विरोधों की तपन में भी
सृजन का यह जलद हो !

भुवनेश चतुर्वेदी 'यायावर'

[परिचय—श्री भुवनेशचन्द्र जी चतुर्वेदी प्रतिभाशील तरुण कवि तथा कहानीकार हैं। पहले मधुर-कल्पनाओं एवं रंगीन सपनों से सजे हुये गीत लिखा करते थे, अब यथार्थ जीवन के चित्र खींचने वाली कवितायें अधिक लिखने लगे हैं। प्रयाग विश्वविद्यालय से इसी वर्ष 'अर्थशास्त्र' विषय लेकर एम० ए० किया है। प्रयाग के प्रगतिशील मासिक 'झंकार' के इस समय संपादक हैं।]

चार रुबाइयाँ

दिवस बीते, दिशाएँ 'इति' में समाईं
साँझ ने पलकें उठाईं, फिर गिराईं
तुम नहीं, केवल तुम्हारी याद लेकर
हिचकियाँ दो-चार मेरे पास आईं।

दिन ढला, थक गया सूरज, साँझ आई
और निशि की कालिमा में जा समाई
दूर करते रात की अंजराइयों को
चाँद को देखा; तुम्हारी याद आई।

कह रही हो तुम कि मुझ को भूल जाओ
मिलन अब संभव नहीं, मत पास आओ
किन्तु मिलना ही नहीं सब कुछ अरे रूपसि!
प्यार वह 'सब कुछ लुटा कुछ भी न पाओ'।

तुमसे दूर होकर भी, न तुम को भूल पाऊँगा
हर एक साँस के हर तार पर तुमको बुलाऊँगा
कि जब हो जिंदगी खामोश सोयेगी चितापर तब,
तुम्हारी याद को भी साथ अपने ही जलाऊँगा।

[२]

मुफ्त का सिरदर्द हम क्यों लें ?

धुयें का उड़ाते गुब्बार
रेंगते से जा रहे थे रोड पर
विद्यार्थी दो चार;
कुछ एक जिनमें 'पोलिटिकल डिस्कशन' थे कर रहे
कुछ दूसरी ही ओर
चलती राह पर की लड़कियों को देखकर
सर्द आहें भर रहे,
सामने से एक बूढ़ा आ रहा था
'एक पैसा दो भला होगा'
न जाने वृद्ध कब से, अथक हो चिल्ला रहा था।
पान की दूकान पर आकर हुये वे सब खड़े,
'एक कैंची दो इधर, 'दो पान मीठे दो इधर'
सब कह पड़े,
और लँगड़ाता हुआ बुड्ढा तभी ही पास आया
'एक पैसा दो मुझे बाबू बड़े'
कहते हुये था हाथ आगे को बढ़ाया
'शरम आती है नहीं तुम मांगते हो भीख
कुछ मेहनत करो
खाओ कमाकर ही, बाँध रक्खो गिरहमें यह सीख'

"ठीक ही है दोस्त" बोले दूसरे ताईद करते दोस्त की
"नाक में दम है हमारे
'पैरासाइटों' की बदौलत इन,
आज है 'प्राब्लम' खड़ी कर दी बड़ी इन मरदुओं ने
'रशा' में देखो न है कोई भिखारी
'प्रोस्पेरस' है 'रशा' कितना ?"
कहा औ' दो कदम आगे बढ़े
तीसरे भी क्यों रहें पीछे पड़े यह सोच बोले
"जेल में क्यों कर न ढूँसा जाय इनको
भूल जाएँगे तभी सब मांगना यह भीख"

"ठीक कहते हो
बड़ा अच्छा 'सजेशन' है
मगर क्यों भूलते हो
पहुँचना जल्दी वहां पर आज 'फंक्शन' है
'भिखारी' औ 'गरीबी'
मुफ्त का सिरदर्द हम क्यों लें
करे सरकार ही इनकी फिकर
हमें चिंता भला क्यों कर"
कहते हुये आगे बढ़े चश्मा चढ़ाए दोस्त चौथे
अधजली 'सुबरानियों' को फूंकते

और ठिठके रह गये हम सोचते
"इन्सान है इन्सानियत से आज कितना दूर
मर गई इन्सानियत इन्सान की
भर चुकी हैवानियत इन्सान में भर पूर"

मोहनलाल अवस्थी 'मोहन'

[परिचय—श्री मोहनलाल जी अवस्थी 'मोहन' नई पीढ़ी के प्रतिभाशाली गीतकार हैं। प्रौढ़ता, स्पष्टता तथा मार्मिकता इनके गीतों की विशेषतायें हैं। 'महारथी' नामक खण्डकाव्य लिख कर अवस्थी जी ने हिन्दी के नये कवियों के बीच एक विशेष स्थान प्राप्त कर लिया है। इस समय प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० (हिन्दी) के छात्र हैं।]

आसमान की ओर ?

बढ़ गया आज विज्ञान कल्पना के आगे
डगमग डगमग हैं पैर कला के काँप रहे।
चेतन मानव की लम्बाई चौड़ाई को
ये जड़ धरती आकाश बराबर नाप रहे।

बंदी दामिनी व्यजन झलती है अब उस पर
उसका संदेशा आज पवन लेजाता है।
स्वछंद विहग-सा विचरण करता है मानव
बादल उसकी आज्ञा पर जल बरसाता है।

जब उस मानव की भृकुटि वक्र हो जाती है
तो भीम शिलाएँ रज बन कर उड़जाती हैं।
जिस ओर पकड़कर कान घुमा देता है वह
ये सरिताएँ चुपचाप उधर मुड़ जाती हैं।

सारी दुनिया में उसका सिक्का चलता है
उसके अरमानों की बारात निकलती है।

उसके विशाल मस्तक का लोहा मान मान
प्रति पग पर अचला धरा सुवर्ण उगलती है।

उसने पानी पर भी लोहा तैराया है
अम्बर को मानव क्षण भर में कर पार रहा।
हैं कहाँ गये नल-नील और वह हनूमान
मनु पुत्र आज है उन्हें खड़ा ललकार रहा।

अब एक समय ऐसा भी आनेवाला है
जब शायद नभ में उसका घर बन जाएगा।
जब कभी कभी छुट्टी में वह दो एक बार
पृथ्वी के ऊपर मन बहलाने आएगा।

उसने जग का तो रूप बदल डाला बिलकुल
लेकिन अपने में कुछ परिवर्तन ला न सका।
विज्ञान-ज्ञान के सभी क्षेत्र उसने खोजे,
फिर भी प्रकाश धरती के ऊपर आ न सका।

घर-घर उसने विद्युति के दीप जलाए हैं
मिट्टी के स्नेह भरे दीपक बेकार हुए।
मिट गया अँधेरा तो दीपक के नीचे से
पर दीपक के ऊपर तमदेव सवार हुए।

सम्पाती से भी तीव्र दृष्टि है मानव की
तीनों लोकों की गति उसको दिखलाती है।
पर उसकी सीता साँस, कहाँ पर उलझ गई
इसकी आहट तक उसे नहीं मिल पाती है।

बेचैन हो रहा है वह मंगल ग्रह में जा
उसके निवासियों से सम्पर्क बढ़ाने को।
लेकिन अपना प्रतिरूप नहीं पहचान सका
तैयार खड़ा है वह नर को खा जाने को।

आगे बढ़ता जाता है जितना यह मानव
मानवता उतना पीछे हटती जाती है।
दिन-रात बोझ उसके शरीर का ढो ढोकर
कोमल सागर की छाती फटती जाती है।

वह एक ओर तो लिए हुये कुछ मधु के कण
सूखी मिट्टी में फूल खिलाता चलता है।
दूसरी ओर 'एटम' 'हायड्रोजन' बम्बों से
मिट्टी में कितने फूल मिलाता चलता है।

इसलिए नहीं आश्चर्य अगर मिट्टी का कण
है नहीं आजतक इस नर को पहचान सका।
ऊपर उठता या नीचे गिरता जाता है
वह नहीं स्वयं मानव ही इसको जान सका।

बेकार अरे यह अन्वेषण ये यंत्र सभी
यदि वे नर को निर्जीव बनाते जाते हैं।
पाशविक शक्ति तो दान उसे करते लेकिन
उसके शरीर से हृदय चुराते जाते हैं।

धरती से चाहे जितनी दूर उड़े मानव
पर बंद उसे यह अपनी गति करनी होगी।
मिट्टी का मूल्य समझना ही होगा उसको
धरती की रज उसको सर पर धरनी होगी।

जब वह सीखेगा मिट्टी के आगे झुकना
तो झुका स्वयं उसके आगे अम्बर होगा।
घर आसमान में तब उसका बन जाएगा
जब उसके दिल में मानवता का घर होगा।

रघुनाथप्रसाद सिंह

[परिचय—उदीयमान तरुण कवि श्री रघुनाथप्रसाद सिंह जी हिन्दी साहित्य में फैले अनेक वादों विवादों से मुक्त रहकर ही अपनी कला का विकास कर रहे हैं। यद्यपि इन्होंने कवितायें लिखना अभी आरम्भ ही किया है, फिर भी इनकी रचनाओं में प्रतिभा के अंकुर स्पष्ट दिखाई देते हैं। इस समय प्रयाग विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।]

पंछी-गन बोले···

कोयल बोली तो कूक उठा हिया
सुधि का चातक पुकार उठा 'पिया'
किसकी यह माया है, किसका यह राग अमर
वसुधा को अपनी सुधा से रहा है भर
मन के अकाश में
पीड़ा की बादरिया घिर आई, बरस गई
सोंधी उसास लिए आहों की; डोल उठी
साँसों सी नरम गरम पुरवाई
लतिका-सा मेरा मन
रह-रह छन-छन डोले
प्राची के आँगन में
किसकी गुलाबी चुनरिया फहर उठी
सोये से सागर के मानस में—
किसके सुख-सपनों की, सुधियों की लहर उठी;
हरी-हरी दूबों के टुनगों पर

मोती सी किसकी द्युति दमक उठी
प्यार की बँसुरिया भी पीर भरी
'मोहन' 'मोहन' बोले;
धरती पर,
पीले-पीले रेशम के तारों का—
पट बुन कर किरणें बिछा गईं
लतिकाएँ फूलों से 'डाली' भर
श्रद्धा से झुक कर चढ़ा गईं
आखिर वह कौन ?
मत पूछो—
उत्तर निरुत्तर हो, और जटिल प्रश्न बन जायगा
साधक को सिद्धि मिले अनबोले
पंछीगन बोले···

[२]

ताज

तुम ताजमहल को—
दुग्धधवल पाषाणों का प्रासाद समझ बैठे हो
हरिताभ वृन्त पर खिलते नव अरुणाभ सुमन को
तुम लाल-लाल धग्-धग् जलता अंगार समझ बैठे हो
इस मज़ार में—
उस मानव की चाह सँजोयी गई—
कि जिसके आगे दुर्दम नरपतियों के उन्नत ताज झुके थे
जिसके राज मुकुट पर
बाबर के फौलादी हाथों की छाया थी
जिसका सिंहासन, अकबर का सिंहासन था

महाशक्ति भी जिसके चरणों की चेरी थी—
वही 'शाह' अपनी प्रेयसि के मधुर-प्रणय के अवगुंठन को
टाल न पाया,
यह है उसके सजल स्नेह की स्वप्निल छाया
ताजमहल को शोषण का प्रतीक कहकर तुम—
नहीं ताज का,
प्यार भरे मन की स्मृति स्पन्दन का उपहास कर रहे हो
अपनी प्रेयसि के अन्तिम अरमान न पूरा करे—
साधनों के होते भी—
है ऐसे भी प्रणयी का अस्तित्व धरा पर !
मुक्त कुन्तला द्रुपदसुता के ही इंगित पर—
कोटि-कोटि प्राणों की भेंट चढ़ाने वाला—
नर तो, केवल देवोपम ही नहीं, कहाता धर्मराज है
प्राणप्रिया का स्मारक बनवाने पर ही
शाहजहाँ को शोषक कहता यह समाज है
प्रणय नहीं है रूप हाट का कोई सौदा
जिसके क्रय के पूर्व थैलियाँ जाँय टटोली
वह है बड़ा अकिंचन, पर अक्षय, अपार धन—
बनकर प्रणयी के मानस पर छा जाता है
बीस कोटि तो उसने कम ही किया प्रेम के पागलपन में—
वह सारी वसुधा का मधुमय हास लुटा सकता था।
सब यह कह सकते हैं, स्मारक बनवाया—
ललनाओं के शुचि सुहाग में आग लगाकर
लेकिन यह उनका भी स्मारक है—
उनका अकलुष प्रेम धवलिमा इस मज़ार की
इसीलिए तो तुमको केवल शाह ताज की नहीं—
याद उनकी भी आती

बीस कोटि को उसने कंचन 'सुरा' कामिनी की छलना पर—
लुटा दिया होता तो बोलो
तुम किस पर अपने आँसू के अर्घ्य चढ़ाते
पत्थर ने वह दो दिल यहाँ सँजो रक्खे हैं—
जिनने पत्थर बनने से इनकार कर दिया
यहाँ मौत की कारा में दो प्राण बन्द हैं
जिनने युग सँग मरना अस्वीकार कर दिया
इसीलिए सदियों की छाती चीर, प्यार की पीर सँजोये
पूर्ण पुरातन है लेकिन यह
चिर नवीन है

रामकृपाल सिंह 'प्रकाश'

[परिचय—श्री रामकृपाल सिंह जी 'प्रकाश' आधुनिक-पीढ़ी के उदीयमान गीतकार हैं। मधुर तथा रंगीन कल्पनाओं से सजे गीतों की सृष्टि करने में 'प्रकाश' जी को यथेष्ट सफलता प्राप्त हुई है। इस समय प्रयाग विश्वविद्यालय में शिक्षा ग्रहण कर रहे हैं।]

गीत

तुम गाओ मन के गीत, और मैं करूँ गीत से प्रीत।
गीतों के स्वर गीतों से,
कुछ दूर गगन में उठ कर।
दें बांध हृदय की ज्वाला,
निज स्वर्णिम-स्वर में कस कर।

गीतों की स्वर लहरी से,
प्रज्ज्वलित - प्रशस्त हमारे।
चिर ज्वाल मिले नीरव में,
पा शांत-निलय के तारे।
तुम हो प्राणों के गीत, और मैं प्राणों की संगीत।
तुम गाओ मन के गीत, और मैं करूँ गीत से प्रीत॥

ऊषा की मधु बेला में,
तुम नूतन-नृत्य दिखाओ।
प्राणों में मधु कंपन बन,
मन मन्दिर में इठलाओ।

मैं उस सिहरन में छिपकर,
अंगड़ाई लेना सीखूँ।
तब रोक मुझे मत देना,
जब मैं अकलुष रस चीखूं।
तुम आशाओं के मीत, और मैं आशाओं की जीत।
तुम गाओ मन के गीत, और मैं करूँ गीत से प्रीत॥

क्या महा-प्रलय की किरणें,
मेघों की अंतिम बूंदें।
कुछ कर न सकेंगी मेरा।
प्रिय नयन रहो यदि मूँदे।

पर आशाओं के मग में,
बहती विछोह की सरिता।
तुम हिमगिरि की चोटी हो,
मैं विवश नीर सुरसरि का।
तुम छोड़ो मधु संगीत और मैं छोड़ूँ जग की रीत।
तुम गाओ मन के गीत, और मैं करूँ गीत से प्रीत॥

[२]

गीत

बादलो बरसो वहां, जाकर जहाँ हो आह मेरी ।

इन टपकती रश्मियों से,
तुम जगाना सुप्त-लतिका ।
इन ढुलकते जल-कणों से,
तुम बुझाना तप्त-कलिका ।

तप्त-लतिका की कली को,
जब जगाना या बुझाना ।
याद रखना वेदना मम,
शांत होने पर बताना ।

और कहना मंजु-पद से, कंटकों की राह—मेरी ।
बादलो बरसो वहां जाकर, जहां हो आह-मेरी ।।

मानता हूँ भूल मन की,
भूल देकर शूल लाना ।
और कह नूतन-कहानी,
मेघ ? फिर तुम लौट आना ।

लौट कर फिर बरस जाना,
स्नेह लतिका के सहारे ।
मैं तिरूँगा बीच में,
दर्शक बनोगे तुम किनारे ।

तब वहीं होगी प्रफुल्लित चिर-युगों की चाह मेरी।
बादलो बरसो वहां जाकर, जहां हो आह—मेरी॥

तुम बरसते हो यहां यदि,
आग निकलेगी हृदय से।
और निकलेगी उसी क्षण,
'तप्त जगती' प्रिय निलय से।

उस ज्वलित या प्रज्ज्वलित,
जग का नया अभिसार लेकर।
कर सकूंगा क्या समर्पित,
उस 'विजय' का प्यार लेकर।

प्रिय! व्यथित मन की धधकती, फिर उठेगी आह मेरी।
बादलो बरसो वहां जाकर, जहां हो आह - मेरी॥

बूंद, लेकर बरसना फिर,
वेदना किंचित हमारी।
उस हृदय को शांत करना,
सांत्वना देकर हमारी।

वेदना सब बांट करके,
बूंद केवल दो बचाकर।
तब बरस जाना प्रिये तुम,
स्नेह का सन्देश लाकर।

देख तुम को, शांत होगी, चिर विरह की धाह मेरी।
बादलो बरसो वहां जाकर, जहां हो आह-मेरी॥

श्रीराम वर्मा

[परिचय—श्री श्रीराम वर्मा जी उदीयमान कवि तथा समीक्षक हैं। अनुभूति, कल्पना एवं सौंदर्यबोध की सफल अभिव्यक्ति वर्मा जी की कविताओं में मिलती है। इस समय प्रयाग में रह कर स्वाध्याय तथा साहित्यसाधना में लगे हुये हैं।]

चरम परिणति

रश्मि से भरपूर
हिमनिर्मुक्त
वह राकेश—
सच, मेरे तुम्हारे स्नेहमय बर्ताव-सा!
किन्तु
उसके बीच में वह क्या—
धुँधल के-सा, कुहासे-सा सघन?
यह हो नहीं सकता
कि पहुँचे चाँद तक काला धुआँ
उस फ़ैक्टरी का, या किसी चिमनी वगैरह का!
फिर सत्य ही है
लोक का थोपा हुआ सन्देह उस पर जा जमा—
ऊसर सरीखी भूमि पर
खिलता कुटज का फूल जैसे
तिक्त औ 'कड़ुवा, बिना पानी बिना ही खाद के!
पर ठीक है,
सौन्दर्य की यह चरम परिणति है—

कि हो कुँआरे गाल पर बस एक तिल काला —
सदा जो खींच ले केवल इशारों से
सकल मन को;
सभी जन को,
नहीं—सारे ज़माने को—
सकल ऐश्वर्य से क्षण में हटा !

सोमदत्त

[परिचय—श्री सोमदत्त जी तिवारी हिन्दी के एक तरुणकवि हैं। कविताओं के अतिरिक्त ये एकांकी लिखने में भी अत्यन्त पटु हैं। इनके एकांकी अभिनेयता की दृष्टि से अत्यन्त सफल हैं तथा अनेक शिक्षण संस्थाओं द्वारा उनका सफलता पूर्वक अभिनय भी किया जा चुका है। इस समय प्रयागविश्वविद्यालय में एम० ए० (हिन्दी) के छात्र हैं।]

गीत

संध्या के झिलमिल तारों में, रुनझुन-रुनझुन बज उठी बीन !
सुरमई सांझ के आंचल में,
छिप गये गगन के सकल छोर।
उड़ चले पखेरू मौन बने,
नभ-पथ से अपने नीड़ ओर।
अपने कुन्तल में बांध लिया, राका ने रवि से किरन छीन !
मैंने भी तारों को देखा,
तुमने भी तारों को देखा।

अधरों पर हम तुम दोनों के,
खिंच गई हास की मृदु रेखा।
उड़ चला गगन के तारों तक, मानस मेरा कल्पना लीन!

कब दिन डूबा, कब सांझ हुई,
कब सांझ गई, कब रात हुई।
इतना ही केवल जान सका,
निसि भर मधु की बरसात हुई।
वह रात मिलन की गई, कर गई मन मेरा मकरन्द हीन।

संध्या तो अब भी आती है,
तारों को अपने साथ लिये।
अब भी बहती रहती निसि में,
मधु वात, नवल मकरन्द पिये।
पर रात मुझे लगती जैसे, सरिता कोई जल से विहीन!
संध्या के·····

सुरेन्द्रपाल सिंह

[परिचय—कविताओं के अतिरिक्त सुरेन्द्रपाल सिंह, कहानी, स्कैच तथा एकांकी, लिखने में भी रुचि रखते हैं। इधर कुछ दिनों से समालोचना के क्षेत्र को भी अपना लिया है। इस समय प्रयाग विश्वविद्यालय में एम० ए० (हिन्दी) के छात्र हैं।]

वस्तु-स्थिति

दूर तुम हो और जीवन की डगर, खूँख़ार कांटों से रुंधी है
टिम-टिमाते दीप-सी यह ज़िन्दगी भी
काँपती कमजोर सांसों से बँधी है

खो चुके वे गान, गाये थे जिन्हें मैंने
रिझाने के लिये, तुमको मनाने के लिये;
बुझ चुके हैं वे सभी
मैंने जलाये थे कभी
जिनको तुम्हारे प्यार में
अपने हृदय के स्नेह से
आशा भरे, अरमान के कोमल दिये;
स्वप्न जिसको चाहता था देखना साकार
अब वह स्वप्न बनता जा रहा है
यह धरा, यह लोक मेरे वास्ते
मिटता सिमटता आ रहा है
चाहता हूँ रोक कर चलते समय के चक्र को
फेर दूँ उल्टी दिशा की ओर
और लौटा लूँ—
तुम्हारा प्यार
तुम्हारे प्यार का मादक मधुर उपहार
किन्तु ये सब व्यर्थ की बातें
नहीं लौटा सकूंगा मैं
तुम्हारे प्यार से भीगे हुये मधु-क्षण
सुनहले दिन
सुहानी मदभरी रातें;
मगर फिर भी
न जाने क्यों
मुझे लगता है जैसे मैं
तुम्हारे पास होता जा रहा हूँ
हँसी अन्तर में भरती जा रही है
सभी कहते हैं रोता जा रहा हूँ।

हरिशंकर शर्मा 'हरीश'

[परिचय—तरुण गीतकार श्री हरिशंकर शर्मा 'हरीश' कवि होने के साथ-साथ एक सफल अभिनेता भी हैं। इनके गीतों में हृदय को छू लेने वाली विदग्धता एवं मार्मिकता मिलती है। इस समय प्रयाग-विश्वविद्यालय में एम० ए० (हिन्दी) के छात्र हैं।]

गीत

मैं व्यथा का हूँ सवेरा
तिमिर घन आये उमड़ के,
इस धरा में धूम्र भरने।
साथ बैठा था हृदय की,
कामना कुछ कर गुजरने॥
प्रेम का इतिहास लिखने को बना मैं चल चितेरा...
तुम विरह की यामिनी तो,
प्रात मैं हूँ आँसुओं का।
प्राणमय उन्माद मैं हूँ,
रूप लेकर आँसुओं का॥
चाहता हूँ तड़प का केवल सजल संसार मेरा...
इस व्यथा में टीस है,
अनुराग है, आनंद देखा।
प्राण देखा मान जीवन,
चिरन्तन उन्माद देखा॥
तभी तो इस व्यथा ने चल कर सजल संसार घेरा...
उठा हूँ अनुराग लेकर,
दहकती साधें व्यथा की।
सजल जीवन नयन मुकुलित,
व्यथामय जग की कथा की॥
विजन जागृति गान मिलते, व्यथा का संसार हेरा...

★

गीत

दहकते अंगार को कैसे बुझा लूँ?

उठ रही हैं आँधियाँ हर ओर जग में,
घन घने जीवन भरे, अनुराग मग में;
कल्पना के इन्दु का प्रतिबिम्ब जागा,
कुसुम जागे, तमस पलकें खोल भागा।
अलक-सी पलकें उठालूँ फिर गिरा लूँ॥

आस लेकर प्राणमय गतिमान हूँ मैं,
सांस ले निभृत शिखर-पथ-यान हूँ मैं;
है दिशा अज्ञात लक्ष्य अलक्ष मेरा,
क्षीण क्रन्दन हीन तड़पन का सबेरा।
अरुण आँचल की प्रभा का प्यार पा लूँ॥

प्राणमय तूने जगाई प्यास मन में,
सच कहूँ तुमने लगाई आग तन में;
गर्म सांसों से भरे इतिहास मेरे,
सजल समरसता भरे मधुमास तेरे।
भग्न उर-वीणा बजा कुछ गीत गा लूँ॥

दे सजल कर नभ-धरा को गीत मेरा,
जग-व्यथा को मेट दे संगीत मेरा;
रश्मियाँ आलोक लाईं तम हटेगा,
कह रहा मन प्राण से बन्धन कटेगा।
शून्य में अस्तित्व निज फिर क्यों छिपा लूँ?
दहकते अंगार को कैसे बुझा लूँ?

★ ★